।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

गीता के आरम्भ में ही धृतराष्ट्र का प्रश्न था कि, संजय! धर्मक्षेत्र में तथा कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु-पुत्रों ने क्या किया? अभी तक यह नहीं बताया गया कि वह क्षेत्र है कहाँ? किन्तु जिन महापुरुष ने जिस क्षेत्र में युद्ध बताया, स्वयं ही उस क्षेत्र का प्रस्तुत अध्याय में निर्णय देते हैं कि वह क्षेत्र वस्तुतः है कहाँ?

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है और इसको जो भली प्रकार जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। वह उसमें फँसा नहीं है बल्कि उसका संचालक है। ऐसा उस तत्त्व को विदित करनेवाले महापुरुषों ने कहा है।

शरीर तो एक ही है, उसमें धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र ये दो क्षेत्र कैसे? वस्तुतः इस एक ही शरीर के अन्तराल में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं। एक तो परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली पुण्यमयी प्रवृत्ति दैवी सम्पद् है और दूसरी है आसुरी सम्पद्-दूषित दृष्टिकोण से जिसका गठन है, जो नश्वर संसार में विश्वास दिलाती है। जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो यही शरीर 'कुरुक्षेत्र' बन जाता है और इसी शरीर के अन्तराल में जब दैवी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो यही शरीर 'धर्मक्षेत्र' कहलाता है। यह चढ़ाव-उतार बराबर लगा रहता है; किन्तु तत्त्वदर्शी महापुरुष के सान्निध्य से जब कोई अनन्य भक्ति द्वारा आराधना में प्रवृत्त होता है, तो दोनों प्रवृत्तियों में निर्णायक युद्ध का सूत्रपात हो जाता है। क्रमशः दैवी सम्पद् का उत्थान

और आसुरी सम्पद् का शमन हो जाता है। आसुरी सम्पद् के सर्वथा शमन के उपरान्त परम के दिग्दर्शन की अवस्था आती है। दर्शन के साथ ही दैवी सम्पद् की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः वह भी परमात्मा में स्वतः विलय हो जाती है। भजनेवाला पुरुष परमात्मा में प्रवेश पा जाता है। ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन ने देखा कि कौरव-पक्ष के अनन्तर पाण्डव-पक्ष के योद्धा भी योगेश्वर में विलीन होते जा रहे हैं। इस विलय के पश्चात् पुरुष का जो स्वरूप है, वही क्षेत्रज्ञ है। आगे देखें-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान अर्थात् मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ। जो इस क्षेत्र को जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है - ऐसा उसे साक्षात् जाननेवाले महापुरुष कहते हैं और श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण भी एक योगेश्वर ही थे। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् विकारसहित प्रकृति और पुरुष को तत्त्व से जानना ही ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है अर्थात् साक्षात्कारसहित इनकी जानकारी का नाम ज्ञान है। कोरी बहस का नाम ज्ञान नहीं है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

वह क्षेत्र जैसा है और जिन विकारोंवाला है तथा जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब मुझसे संक्षेप में सुन। अर्थात् क्षेत्र विकारवाला है, किसी कारण से हुआ है, जबकि क्षेत्रज्ञ केवल प्रभाववाला है। मैं ही कहता हूँ - ऐसी बात नहीं है, ऋषि भी कहते हैं-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से गायन किया गया है। नाना प्रकार से वेदों की मन्त्रणा द्वारा विभाजित करके भी कहा गया है तथा विशेष रूप से निश्चित किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के वाक्यों द्वारा भी वही कहा गया है। अर्थात् वेदान्त, महर्षि, ब्रह्मसूत्र और हम एक ही बात कहने जा रहे हैं। श्रीकृष्ण वही कहते हैं, जो इन सबने कहा है।

क्या शरीर (क्षेत्र) इतना ही है, जितना दिखाई देता है? इस पर कहते हैं-

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

अर्जुन! पंच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), अहंकार, बुद्धि और चित्त (चित्त का नाम न लेकर उसे अव्यक्त परा प्रकृति कहा गया। अर्थात् मूल प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें परा प्रकृति भी सम्मिलित है, उपर्युक्त आठों अष्टधा मूल प्रकृति है) तथा दस इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा, रसना, हाथ, पैर, उपस्थ तथा गुदा), एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) तथा-

इच्छाः द्वेष सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और सबका समूह स्थूल देह का यह पिण्ड, चेतना और धैर्य, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंसहित संक्षेप से कहा गया। संक्षेप में यही क्षेत्र का स्वरूप है, जिसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कारों के रूप में उगता है। शरीर ही क्षेत्र है। शरीर में गारा-मसाला किस वस्तु का है? तो यही पाँच तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, एक मन इत्यादि, जैसा लक्षण ऊपर गिनाया गया है। इन सबका सामूहिक संघात पिण्ड शरीर है। जब तक ये विकार रहेंगे, तब तक यह पिण्ड भी विद्यमान रहेगा इसलिए कि यह विकारों से बना है। अब उस क्षेत्रज्ञ का स्वरूप देखें, जो इस क्षेत्र में लिप्त नहीं बल्कि उससे निवृत्त है-

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

हे अर्जुन! मान-अपमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा (अर्थात् अपनी तथा अन्य किसी की आत्मा को कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चींटी मत मारो। श्रीकृष्ण ने कहा कि अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाओ। उसको अधोगति में पहुँचाना हिंसा है और उसका उत्थान ही शुद्ध अहिंसा है। ऐसा पुरुष अन्य आत्माओं के उत्थानहेतु भी उन्मुख रहता है। हाँ, इसका आरम्भ किसी को ठेस न पहुँचाने से होता है। यह उसी का एक अंग-प्रत्यंग है) अतः अहिंसा, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, आचार्योपासना अर्थात् श्रद्धा-भक्तिसहित

सद्‌गुरु की सेवा और उनकी उपासना, पवित्रता, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीर का निग्रह और-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इस लोक और परलोक के देखे-सुने भोगों में आसक्ति का अभाव, अहं का अभाव, जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग और भोगादि में दुःख-दोष का बारम्बार चिन्तन,

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

पुत्र, स्त्री, धन और गृहादि में आसक्ति का अभाव, प्रिय तथा अप्रिय की प्राप्ति में चित्त का सदैव सम रहना (क्षेत्रज्ञ की साधना स्त्री-पुत्रादि गृहस्थी की परिस्थितियों में ही आरंभ होती है।) जो-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि।।१०।।

मुझमें (श्रीकृष्ण एक योगी थे अर्थात् ऐसे किसी महापुरुष में) अनन्य योग से अर्थात् योग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्मरण न करते हुए, अव्यभिचारिणी भक्ति (इष्ट के अतिरिक्त किसी चिन्तन का न आना), एकान्त स्थान का सेवन, मनुष्यों के समूह में रहने की आसक्ति का न होना तथा-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्मा के आधिपत्यवाले ज्ञान में एकरस स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार - यह सब तो ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह सब अज्ञान है - ऐसा कहा गया है। उस परमतत्त्व परमात्मा के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। (अध्याय चार में उन्होंने कहा कि यज्ञ की पूर्ति में यज्ञ जिसे शेष छोड़ता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। अतः ब्रह्म के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञान है। यहाँ भी वही कहते हैं कि तत्त्वस्वरूप परमात्मा के साक्षात्कार का नाम ज्ञान है।) इसके विपरीत

सब अज्ञान है। अमानित्व इत्यादि उपर्युक्त लक्षण इस ज्ञान के पूरक हैं। यह प्रश्न पूरा हुआ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

अर्जुन! जो जानने योग्य है तथा जिसे जानकर मरणधर्मा मनुष्य अमृततत्त्व को प्राप्त होता है, उसे अच्छी प्रकार कहूँगा। वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है; क्योंकि जब तक वह अलग है, तब तक वह सत् है और जब मनुष्य उसमें समाहित हो गया तो कौन किससे कहे। एक ही रह जाता है, दूसरे का भान नहीं। ऐसी स्थिति से वह ब्रह्म न सत् है न असत् है, बल्कि जो स्वयं सहज है, वही है।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

वह ब्रह्म सब ओर से हाथ-पैरवाला, सब ओर से नेत्र-सिर और मुखवाला तथा सब ओर से श्रोत्रवाला है, सुननेवाला है; क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला है, फिर भी सब इन्द्रियों से रहित है। वह आसक्तिरहित, गुणों से अतीत होने पर भी सबको धारण और पोषण करनेवाला और सभी गुणों को भोगनेवाला है अर्थात् एक-एक करके सभी गुणों को अपने में लय कर लेता है। जैसा श्रीकृष्ण कह आये हैं कि यज्ञ और तपों को भोगनेवाला मैं हूँ। अन्त में सम्पूर्ण गुण मुझमें विलय हो जाते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

वह ब्रह्म सभी जीवधारियों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है। चर और अचर रूप भी वही है। सूक्ष्म होने से वह दिखाई नहीं पड़ता, अविज्ञेय है, मन-इन्द्रियों से परे है तथा अति समीप और दूर भी वही है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

अविभाज्य होकर भी वह सम्पूर्ण चराचर भूतों में अलग-अलग के सदृश प्रतीत होता है। वह जानने योग्य परमात्मा समस्त भूतों को उत्पन्न करनेवाला, भरण-पोषण करनेवाला और अन्त में संहार करनेवाला है। यहाँ बाह्य और आन्तरिक दोनों भावों की ओर संकेत किया गया है। जैसे- बाहर जन्म और भीतर जागृति, बाहर पालन और भीतर योगक्षेम का निर्वाह, बाहर शरीर का परिवर्तन और भीतर सर्वस्व का विलय अर्थात् भूतों की उत्पत्ति के कारणों का लय और उस लय के साथ ही अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यह सब उसी ब्रह्म के लक्षण हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है, तम से अति परे कहा जाता है। वह पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण ज्ञाता है, जानने योग्य है और ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होनेवाला है। साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। ऐसी जानकारी द्वारा ही उस ब्रह्म का प्राप्त होना सम्भव है। वह सबके हृदय में स्थित है। उसका निवास स्थान हृदय है। अन्यत्र ढूँढ़ने पर वह नहीं मिलेगा। अतः हृदय में ध्यान तथा योगाचरण द्वारा ही उस ब्रह्म की प्राप्ति का विधान है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

हे अर्जुन! बस इतना ही क्षेत्र, ज्ञान तथा जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया है। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जिसे क्षेत्र कहा था, उसी को प्रकृति और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा था, उसी को अब पुरुष शब्द से इंगित करते हैं-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१९।।

यह प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि जान तथा सम्पूर्ण विकार त्रिगुणमयी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

कार्य और करण (जिसके द्वारा कार्य किये जाते हैं विवेक, वैराग्य इत्यादि तथा अशुभ कार्य होने में काम, क्रोध इत्यादि करण हैं) को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और यह पुरुष सुख-दुःखों को भोगने में कारण कहा जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या वह भोगता ही रहेगा या इससे कभी छुटकारा भी मिलेगा? जब प्रकृति-पुरुष दोनों ही अनादि हैं, तब कोई इनसे छूटेगा कैसे? इस पर कहते हैं-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

प्रकृति के बीच में खड़ा होनेवाला पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के कार्यरूप पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी तथा बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। यह कारण अर्थात् प्रकृति के गुणों का संग समाप्त होने पर ही जन्म-मृत्यु से मुक्ति मिलती है। अब उस पुरुष पर प्रकाश डालते हैं कि वह किस प्रकार प्रकृति में खड़ा है?-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

वह पुरुष उपद्रष्टा, हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह **'अनुमन्ता'**- अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष **'भर्ता'** बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही **'भोक्ता'** हो जाता है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसाम्'**- यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है। और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में **'महेश्वरः'**- महान् ईश्वर के रूप में

परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष **'परमात्मेति चाप्युक्तो'**- जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा 'परः' ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य साक्षात्कार के साथ विदित कर लेता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी फिर नहीं जन्मता अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता। यही मुक्ति है। अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ब्रह्म और प्रकृति की प्रत्यक्ष जानकारी के साथ मिलनेवाली परमगति अर्थात् उसका पुनर्जन्म से निवृत्ति पर प्रकाश डाला और अब वे उस योग पर बल देते हैं जिसकी प्रक्रिया है आराधना; क्योंकि इस कर्म को कार्यरूप दिये बिना कोई पाता नहीं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

हे अर्जुन! उस **'आत्मानम्'**- परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो **'आत्मना'**- अपने अन्तर्चिन्तन से ध्यान के द्वारा **'आत्मनि'**- हृदय-देश में देखते हैं। कितने ही सांख्ययोग के द्वारा (अर्थात् अपनी शक्ति को समझते हुए उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं।) और अन्य बहुत से उसे निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं। समर्पण के साथ उसी नियत कर्म में प्रवृत्त होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में मुख्य साधन है ध्यान। उस ध्यान में प्रवृत्त होने के लिए सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दो धाराएँ हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

परन्तु दूसरे, जिनको साधना का ज्ञान नहीं है, वे इस प्रकार न जानते हुए **'अन्येभ्यः'**- दूसरे जो तत्त्व को जाननेवाले महापुरुष हैं, उनके द्वारा

सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूपी संसार-सागर से निःसन्देह तर जाते हैं। अतः कुछ भी पार न लगे तो सत्संग करें।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

हे अर्जुन! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर-जंगम वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उन सम्पूर्ण को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान। प्राप्ति कब होती है? इस पर कहते हैं-

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।

जो पुरुष विशेष रूप से नष्ट होते हुए चराचर सभी भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। अर्थात् उस प्रकृति के विशेष रूप से नष्ट होने पर ही वह परमात्मस्वरूप है, इससे पहले नहीं। इसी पर पीछे अध्याय आठ में भी कहा था, '**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।**'- भूतों के वे भाव, जो (भले अथवा बुरे) कुछ भी (संस्कार) संरचना करते हैं, उनका मिट जाना ही कर्मों की पराकाष्ठा है। उस समय कर्म पूर्ण है। वही यहाँ भी कहते हैं कि जो चराचर भूतों को नष्ट होते हुए और परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही सही देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

क्योंकि वह पुरुष सर्वत्र समभाव से स्थित परमेश्वर को समान (जैसा है, वैसा ही समान) देखता हुआ अपने द्वारा स्वयं को नष्ट नहीं करता। क्योंकि जैसा था, वैसा उसने देखा इसलिये वह परमगति को प्राप्त होता है। प्राप्तिवाले पुरुष के लक्षण बताते हैं-

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किया जाता देखता है अर्थात् जब तक प्रकृति है तभी तक कर्मों का होना देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

जिस काल में मनुष्य भूतों के न्यारे-न्यारे भावों में एक परमात्मा को प्रवाहित स्थित देखता है तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। जिस क्षण यह अवस्था आ गई, उसी क्षण वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह लक्षण भी स्थितप्रज्ञ महापुरुष का ही है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होते हुए भी वास्तव में न करता है और न लिप्त ही होता है। किस प्रकार?-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, ठीक वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। आगे कहते हैं-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अन्त में निर्णय देते हैं-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकार सहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देख लेते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को देखने की आँख ज्ञान है और ज्ञान साक्षात्कार का ही पर्याय है।

निष्कर्ष—

गीता के आरम्भ में धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र का नाम तो लिया गया; किन्तु वह क्षेत्र वस्तुतः है कहाँ? वह स्थल बताना शेष था, जिसे स्वयं शास्त्रकार ने प्रस्तुत अध्याय में स्पष्ट किया, कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है। जो इसको जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। वह इसमें फँसा नहीं बल्कि निर्लेप है। इसका संचालक है। अर्जुन! 'सम्पूर्ण क्षेत्रों में मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।' अन्य महापुरुषों से अपनी तुलना की। उससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण भी एक योगी थे; क्योंकि जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा महापुरुषों ने कहा है। मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ अर्थात् अन्य महापुरुषों की तरह मैं भी हूँ।

उन्होंने क्षेत्र जैसा है, जिन विकारोंवाला है, क्षेत्रज्ञ जिन प्रभावोंवाला है, उस पर प्रकाश डाला। मैं ही कहता हूँ ऐसी बात नहीं है, महर्षियों ने भी यही कहा है। वेद के छन्दों में भी उसी को विभाजित करके दर्शाया गया है। ब्रह्मसूत्र में भी वही मिलता है।

शरीर (जो क्षेत्र है) क्या इतना ही है, जितना दिखाई देता है? इसके होने के पीछे जिनका बहुत बड़ा हाथ है, उन्हें गिनाते हुए बताया कि अष्टधा मूल प्रकृति, अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ और मन, इन्द्रियों के पाँचों विषय, आशा, तृष्णा और वासना, इस प्रकार इन विकारों का सामूहिक मिश्रण यह शरीर है। जब तक ये रहेंगे, तब तक शरीर किसी न किसी रूप में रहेगा ही। यही क्षेत्र है, जिसमें बोया भला-बुरा बीज संस्कार रूप से उगता है। जो इसका पार पा लेता है, वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बताते हुए उन्होंने ईश्वरीय गुण-धर्मों पर प्रकाश डाला और कहा कि क्षेत्रज्ञ इस क्षेत्र का प्रकाशक है।

उन्होंने बताया कि साधना के पूर्तिकाल में परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है साक्षात्कार। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, अज्ञान है। जानने योग्य वस्तु है परात्पर ब्रह्म। वह न सत् है, न असत्। इन दोनों से परे है। उसे जानने के लिए लोग हृदय में ध्यान करते हैं, बाहर मूर्ति रखकर नहीं। बहुत से लोग सांख्य-माध्यम से ध्यान करते हैं तो शेष निष्काम कर्मयोग, समर्पण के साथ उसकी प्राप्ति के लिये उसी निर्धारित कर्म आराधना का आचरण करते हैं। जो उसकी विधि नहीं जानते, वे लोग तत्त्वस्थित महापुरुषों द्वारा सुनकर आचरण करते हैं। वे भी परमकल्याण को

प्राप्त हो जाते हैं। अतः कुछ भी समझ में न आवे, तो उसके ज्ञाता महापुरुष का सत्संग आवश्यक है।

स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि जैसे आकाश सर्वत्र सम रहता हुआ भी निर्लेप है, जैसे सूर्य सर्वत्र प्रकाश करते हुए भी निर्लेप है ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष, सर्वत्र सम ईश्वर को जैसा है वैसा ही देखने की क्षमतावाला पुरुष क्षेत्र से अथवा प्रकृति से सर्वथा निर्लेप है। अन्त में उन्होंने निर्णय दिया कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की जानकारी ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा ही सम्भव है। ज्ञान, जैसा कि पीछे बताया गया, उस परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी है। शास्त्रों को बहुत रटकर दुहराना ज्ञान नहीं बल्कि अध्ययन तथा महापुरुषों से उस कर्म को समझकर, उस कर्म पर चलकर मनसहित इन्द्रियों के निरोध और उस निरोध के भी विलयकाल में परमतत्त्व को देखने के साथ जो अनुभूति होती है, उसी अनूभूति का नाम ज्ञान है। क्रिया आवश्यक है। इस अध्याय में मुख्यतः क्षेत्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया गया। वस्तुतः क्षेत्र का स्वरूप व्यापक है। शरीर कहना तो सरल है किन्तु शरीर का सम्बन्ध कहाँ तक है? तो समग्र ब्रह्माण्ड मूल प्रकृति का विस्तार है। अनन्त अन्तरिक्षों तक आपके शरीर का विस्तार है। उनसे आपका जीवन ऊर्जस्वित है, उनके बिना आप जी नहीं सकते। यह भूमण्डल, विश्व जगत्, देश, प्रदेश और आपका यह दिखायी देनेवाला शरीर उस प्रकृति का एक टुकड़ा भी नहीं है। इस प्रकार क्षेत्र का ही इस अध्याय में विस्तार से वर्णन है, अतः-

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग' नामक तेरहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।